प्राचीन भारत में शैक्षिक संस्थाएँ एवं उनके आय के विभिन्न साधन

Shveta Kumari[1]* Dr. Ramakant Sharma[2]

[1] Researsch Scholar

[2] Research Supervisor, Sunrise University, Alwar, Rajasthan

***सारांश:-** प्रारम्भ में जब जीवन की आवश्यकताएँ एवं ज्ञान का क्षेत्र सीमित था, तब परिवार में ही सभी प्रकार की शिक्षा का कार्य सम्पन्न होता था, किन्तु बाद में इसे अपर्याप्त अनुभव किया गया और अन्य प्रकार की शैक्षिक संस्थाओं का जन्म एवं विकास हुआ। शैक्षिक संस्थाओं की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए अर्थ की आवश्यकता होती है। प्राचीन भारत में शैक्षिक संस्थाओं में किन किन सुविधाओं की आवश्यकता होती थी और उनके प्रबन्ध के लिए वित्त की व्यवस्था कैसे होती थी, यह जानना वर्तमान में इसे समुन्नत बनाने की दृष्टि से आवश्यक है। आश्रमों का सम्पूर्ण प्रबन्धन गुरू द्वारा किया जाता था जिसमें शिष्य लोग उसकी सहायता करते थे। कालान्तर में बौद्व धर्म के उदय के बाद बौद्व विहार प्रमुख शिक्षण संस्थान बन गये। इन विहारों में रहते हुए छात्र शिक्षा प्राप्त किया करते थे। विहार भी गुरूकुल के समान ही पूर्णतः आवासीय थे तथा यहाँ पर भी छात्रों को निःशुल्क शुक्षा प्रदान की जाती थी। इन विहारों में से कुछ ने कालान्तर में विश्वविद्यालयों का रूप ग्रहण कर लिया। बौद्व विहारों के अनुकरण पर ही हिन्दुओं ने मन्दिरों में पाठशालाए खोल दी तथा धीरे-धीरे मन्दिर भी शिक्षा के प्रमुख केन्द्र बन गये। इसी प्रकार विभिन्न सम्प्रदायों के विद्वान आचार्यो ने भी अपने मठों के शिक्षण की व्यवस्था की जिससे वे भी शिक्षा के केन्द्र बन गये। अग्रहार ग्राम भी उच्च शिक्षा के केन्द्र के रूप में विकसीत हुए। इन औपचारिक संस्थाओं के अतिरिक्त प्राचीन काल में परिषद्, चरक तथा शाखा का भी उल्लेख मिलता है, जो शिक्षा के प्रचार-प्रसार व विकास के लिए महत्वपूर्ण कार्य करते थे। यद्यपि प्राचीन भारत के विभिन्न कालों के शिक्षण संस्थाओं के स्वरूप में परिवर्तन होता रहा, किन्तु स्वतंत्र शिक्षक तथा उसकी पाठशाला का महत्व सारे देश में सामान्य जन की शिक्षा की दृष्टि से सदैव बना रहा।*

***शब्द संकेत:-** प्राचीन भारत, शैक्षिक संस्थाएँ एवं आय के साधन।*

---------------------------------X--------------------------------

भूमिका:-

आधुनिक इतिहासवेत्ताओं के अनुसार भारत के इतिहास में प्रागैतिहासिक काल से लेकर 1200 ई. तक के विस्तृत कालखण्ड को प्राचीनकाल की संज्ञा दी जाती है। प्रारम्भ में जब जीवन की आवश्यकताएँ एवं ज्ञान का क्षेत्र सीमित था, तब परिवार में ही सभी प्रकार की शिक्षा का कार्य सम्पन्न होता था; किन्तु बाद में इसे अपर्याप्त अनुभव किया गया और अन्य प्रकार की शैक्षिक संस्थाओं का जन्म एवं विकास हुआ। शैक्षिक संस्थाओं की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए अर्थ की आवश्यकता होती है। प्राचीन भारत में शैक्षिक संस्थाओं में किन किन सुविधाओं की आवश्यकता होती थी और उनके प्रबन्ध के लिए वित्त की व्यवस्था कैसे होती थी, यह जानना वर्तमान में इसे समुन्नत बनाने की दृष्टि से आवश्यक है। इसलिए वर्तमान शोधपत्र में प्राचीन भारत की विभिन्न शैक्षिक संस्थाओं के स्वरूप् पर विचार करते हुए, वित्तिय व्यवस्था को स्पष्ट किया गया है। अन्त में प्राचीन भारतीय शैक्षिक संस्थाओं एवं वित्तिय व्यवस्था के आलोक में वर्तमान शैक्षिक व्यवस्था को उन्नत बनाने हेतु, सुझावों को भी प्रस्तुत किया गया है।

प्राचीन भारतीय शैक्षिक संस्थाएँ-

प्राचीन भारत में परिवार, गुरू का कुल या आश्रम, बौद्व विहार आदि विभिन्न प्रकार की शैक्षिक संस्थाएँ थीं। आगे प्रत्येक के संबंध में विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है --

परिवार:- बच्चे की सर्वप्रथम पाठशाला परिवार है, जिसके द्वारा प्रदत्त संस्कारों एवं शिक्षा का बच्चे के भविष्य निर्धारण में विशेष प्रभाव होता है। सम्भवतः वैदिककाल (2500 ई.पू. से

www.ignited.in

1000 ई. पू.) के आरम्भ एवं उसके पूर्व में जब जीवन की आवश्यकताएँ कम थी और ज्ञान का सीमित विकास था, साथ ही शिक्षा प्रदान करने वाले आचार्य (स्वतंत्र शिक्षकों) की संख्या न के बराबर थी, तब परिवार में पिता ही आचार्य का कार्य करते थे। बृहदारण्यक उपनिषद् (5.2.1) में उल्लेख है कि देवों, असुरों और मानवों की शिक्षा उनके पिता प्रजापति के आचार्यत्व में ही हुई थी। इस प्रकार प्राचीन काल में परिवार सर्वप्रथम एक शैक्षिक संस्था के रूप में दिखायी पड़ता है।

गुरू का कुल या आश्रम (गुरूकुल):- कालान्तर में ज्ञान के विकास और जीवन की विविधतापूर्ण आवश्यकताओं के कारण जब शिक्षा कुछ जटिल हो गयी, तो परिवार में पिता आचार्य की भूमिका निभाने में असमर्थ होने लगे। साथ ही परिवार में विद्यार्थीयों (ब्रह्मचारियों) के विद्याध्ययन के अनुकूल वातावरण का अभाव भी होने लगा। इन कारणों से परिवार की शिक्षा अपर्याप्त सिद्व होने लगी। ऐसी दशा में बालकों को वेदों के ज्ञाता आचार्य के पास शिक्षा ग्रहण करने के लिए भेजा जाने लगा। इस प्रकार से बालक अब अपने कुल से निकलकर आचार्य अथवा गुरू के कुल में शिक्षा प्राप्त करने लगा। गुरूकुल समान्यतः ऋषियों के आश्रम होते थे। इस लिए इन्हें गुरू आश्रम भी कहा जाता था। गुरूकुलों की भौगोलिक स्थिति के संबंध में यजुर्वेद (26.15) में उल्लिखित है कि पर्वतों के निकट एवं नदियों के संगमस्थल पर गुरूओं की प्रज्ञा एवं क्रियाशीलता द्वारा विचारशक्ति व क्रियाकुशलता से युक्त मेधावी विद्वान तैयार होते है। यहाँ उल्लेखनीय है कि प्रारम्भ में गुरूकुल ऐसे स्थलों व वनों में स्थित होते थे; किन्तु बाद में नगरो एवं ग्रामों में भी विकसीत होने लगे। शिक्षक गृहस्थ थे और स्वभाविक रूप से वे इन्हें अपने निवास स्थान के समीप ही रखते थे। वैसे यह आवश्यक था कि गुरूकुल नगर अथवा ग्राम में किसी उपवन अथवा एकान्त स्थान पर स्थित हों। इस विवरण से प्रतीत होता हैं कि गुरू शिक्षा संस्थान का प्रबंध प्राकृतिक एवं शान्त परिवेश में करता था, जिससे बिना किसी व्यावधान के शिक्षण कार्य सम्पन्न किया जा सके।

गुरूकुल में प्रबंध का कार्य गुरू स्वयं करता था। पाठ्यक्रम का निर्धारण भी वह स्वयं करता था। यदि गुरूकुल में विद्यार्थियों की संख्या बढ़ जाती थी, तो वहाँ का आचार्य किसी विद्वान को अपना सहायक बना लेता था; अथवा विद्वान वरिष्ठ शिष्यों को नये आये शिष्यों के अध्ययन का कुछ भार दे देता था। गुरूकुल पूर्णतः आवासीय शिक्षा संस्थान थे जहाँ विद्यार्थी गुरूकुल में ही निवास करते हुए शिक्षा ग्रहण करते थे। गुरू अपने शिष्यों की देखभाल अपने पुत्र के समान करता था। अथर्ववेद (11.5.3) में उल्लेख है कि आचार्य ब्रहमचारी का उपनयन करके उसे गुरूकुल में प्रविष्ट करके मानों अपने गर्भ में रख लेता है।

इस प्रकार से गुरूकुल के प्रबंध का सम्पूर्ण उत्तरदायित्व गुरू का ही था, किन्तु परवर्ती कालों में गुरू के अतिरिक्त आचार्य, उपाध्याय, अतिगुरू तथा कुलपति का उल्लेख मिलता है। गौतम धर्मसूत्र (2.56) में आचार्य को सब गुरूओं में श्रेष्ठ कहा गया है। इसका मुख्य कार्य वेदाध्ययन करना बताया गया है। याज्ञवाल्क्य स्मृति (1.35) के अनुसार उपाध्याय वेद के किसी एक अंश का विशेषज्ञ होता था तथा उसी का अध्यापन करता था। अतिगुरू सामान्य गुरूओं की अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ माने जाते थे। विष्णु स्मृति (31.1-3) में माता पिता एवं आचार्य, तीनों को अतिगुरू कहा गया है।

उल्लेखनीय है कि छात्रों की संख्या में वृद्धि के कारण आश्रमों की संख्या में भी वृद्धि हुई तथा आश्रमों के समूहों का उदय हुआ। इन आसपास स्थिति आश्रमों में भिन्न-भिन्न विषयों के विशेषज्ञों द्वारा शिक्षा प्रदान की जाती थी। छात्रों एवं आश्रमों की संख्या में वृद्धि के कारण प्रबंध कार्य अत्यन्त जटिल हो गया। अतः आसपास स्थित आश्रमों ने सामूहिक रूप से प्रबंध का कार्य कुलपति नामक पदाधिकारी को सौप दिया। यह आश्रम के छात्रों के अध्ययन, भोजन, वस्त्र तथा निवास आदि का निःशुल्क प्रबंध करता था। कुलपति वह है, जो 1000 छात्रों के भोजन आदि की व्यवस्था करके उनके अध्ययन का प्रबंध करने में समर्थ हो। उनके पास प्रचुर धन सम्पदा होने के प्रमाण मिलते है। वृहदारण्यक उपनिषद् (6.2.7) में आचार्य कुलपति आरूणी ने अपनी सम्पति का वर्णन किया है कि- मेरे पास स्वर्ण, गौयें, घोड़े, दासियाँ, कम्बल और वस्त्र पर्याप्त मात्रा में है।

उपर्युक्त विवरण में भिन्न भिन्न विषयों के पृथक्-पृथक् विभाग होते है तथा समस्त विभागों का सामूहिक रूप से प्रबंध कार्य कुलपति द्वारा किया जाता है, उसी प्रकार प्राचीन आश्रमों के समूहों में स्थित प्रत्येक आश्रम भिन्न-भिन्न विषयों के विभाग के रूप में थे जिनका सामूहिक रूप से प्रबन्धन कुलपति द्वारा किया जाता था। 700 ई. पू. में तक्षशिला शिक्षा का एक प्रमुख केन्द्र था। यहाँ पर कोई कालेज अथवा विश्वविद्यालय नहीं था अपितु यहाँ पर प्रख्यात विद्वान निवास करते थे जिनके पास उत्तरी भारत के विभिन्न क्षेत्रों से सैंकड़ो विद्यार्थी शिक्षा प्राप्त करने आते थे। प्रत्येक आचार्य अपनी इच्छानुकूल संख्या में ही छात्रों को स्वीकार करता था तथा उन्हीं का अध्यापन करता था। उनके भोजन, वस्त्र, एवं निवास की व्यवस्था आचार्य द्वारा ही की जाती थी। इसी प्रकार काशी, उज्जैन आदि अन्य प्रसिद्व विद्या केन्द्र थे।

जैन विहार:- जैन धर्म और शिक्षा व्यवस्था का उदय वैदिक काल से ही हो गया था।जैन शिक्षा व्यवस्था जो कि जैन धर्म की शिक्षा थी, श्रमण शिक्षा के नाम से जानी जाती थी। इसके अधिष्ठता

www.ignited.in

तीर्थकर एवं मुनी थे। ये स्वयं शिक्षा के केन्द्र थे जो वर्ष के अधिकांश समय भ्रमण करते थे। भ्रमण करते हुए ये जन जन तक स्वतः पहुँच कर उन्हें शिक्षा प्रदान किया करते थे। केवल वर्षा ऋतु के चार माह के लिए जैन साधुओं का संघ एक स्थान पर स्थिर होकर रहता था। उस अवधि में उनके शिविरों में अध्ययन- अध्यापन का कार्य चलता था। अनेक गोष्ठियों का भी आयोजन होता था जिसमें गम्भीर तत्व ज्ञान की चर्चा होती थी। जिन स्थानों पर जैन साधुओ का संघ वर्षावास करता था उन स्थानों का विकास शिक्षा के केन्द्रों के रूप में हो गया। इस प्रकार जैन मन्दिरों ने विद्यालयों एवं शिक्षा केन्द्रो का रूप ले लिया। बौद्ध शिक्षा के केन्द्रो की भाँति इन्हें भी विहार कहा जाता था। इनमें पाटलिपुत्र, मथुरा, श्रावस्ती, बल्लभी, गिरनार, श्रवणवेलगोला, खण्डागिरि, उदयगिरि, राजगृह, एलोरा, कावेरीपट्नम्, उरियूर, मदुरा आदि प्रमुख थे। कुमार पाल चालुक्य (1143-73) के अनेक विहार बनवाये थे।

बौद्ध विहार:- उत्तर वैदिक काल के अन्तिम चरण (लगभग 500 ई. पू.) में समाज में कर्मकाण्डों की प्रधानता हो गयी थी। जाति प्रथा, ऊँच-नीच का भेदभाव आदि रूढ़ियाँ समाज में व्याप्त हो गयी थीं। ऐसी दशा में सभी को समान रूप से शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार भी सुरक्षित नहीं रहा तथा निम्न जातियों को शिक्षा से वंचित कर दिया गया। इन रूढ़ियों के प्रतिक्रिया स्वरूप बौद्ध धर्म का उदय हुआ। बौद्ध धर्म के अनुयायी जिस स्थान पर धार्मिक क्रियाक्लापो के साथ-साथ जन साधारण को शिक्षा प्रदान करने का कार्य भी किया जाता था। भारत में संगठित सार्वतजनिक शिक्षण संस्थाओं के उदय का श्रेय इसी को दिया जाता है। इनका प्रबंध प्रारम्भ में गुरूकुलों के समान ही था; किन्तु बौद्ध धर्म की ख्याति में वृद्धि के साथ ही इन विहारों की ख्याति एवं आकार में वृद्धि होने लगी। कई बौद्ध विहारों ने शीघ्र ही विश्वविद्यालयों का रूप ग्रहण कर लिया। इनकी प्रबंध व्यवस्था उच्च स्तर की थी।

450 ई. के लगभग शिक्षा के केन्द्र के रूप में ख्याति प्राप्त नालन्दा विश्वविद्यालय की प्रबंध व्यवस्था आधुनिकतम थी। विश्वविद्यालय का सम्पूर्ण प्रबंधन कार्य एक अध्यक्ष द्वारा किया जाता था, जिसे महास्थविर कहते थे। हेव्सांग ने शीलभद्र नामक महास्थविर का उल्लेख किया है, जो कुलपति भी थे। महास्थविर की सहायता के लिए दो परिषदें होती थी- 1. शिक्षा समिति 2. प्रबन्ध समिति।

विद्यार्थियों का प्रवेश, पाठ्यक्रम, अध्यापकों की नियुक्ति, उनके अध्यापन कार्य की परिक्षा, पुस्तकालय, पुस्तकों को लिपिबद्ध करना तथा पुनर्लेखन आदि कार्य शिक्षा समिति द्वारा किये जाते थे। इन कार्यो में विहार के भिक्षु भी सहायता करते थे। कार्य के अधिक हो जाने पर सेवकों की नियुक्ति भी की जाती थी। प्रबंध समिति के प्रमुख कार्य अग्रांकित थे- 1. आय-व्यय का विवरण रखना, 2. नये भवनों का निर्माण, 3. पुराने भवनों की मरम्त, 4. छात्रावास, भोजन, वस्त्र, चिकित्सा आदि की व्यवस्था।

हिन्दू मन्दिरों एवं मठों से संलग्न विद्यालय, पाठशाला:- ए.एस. अल्तेकर के अनुसार बौद्ध विहारों को विश्वविद्यालयों में बदलते देखकर हिन्दुओं के मन में भी मन्दिरों में पाठशालाएँ खोलने का विचार आया। अतः विहारों की भाँति ही हिन्दू मन्दिरों ने भी इस समय तक औपचारिक विद्यालयों का रूप ग्रहण कर लिया था। मन्दिारों में विद्यालय सम्भचतः नालन्दा विश्वविद्यालयों की स्थापना (400 ई.) के बाद आरम्भ हुए। वैसे उच्च शिक्षा के केन्द्र के रूप में इनका विकास दसवीं शताब्दी से ही आरम्भ होने के प्रमाण मिलते हैं। दक्षिण भारत में ऐसे मन्दिर विद्यालयों देवालय विद्यापीठों का पर्याप्त विकास हुआ। सलोत्गी देवालय विद्यापीठ, मलकापुरम् देवालय विद्यापीठ, तिरूमुक्कुदल देवालय विद्यापीठ आदि कुछ अति प्रसिद्ध संस्थाएँ थीं।

इन मन्दिर विद्यालयों का प्रबन्धन ग्राम सभाओं द्वारा किया जाता था। ग्राम सभा एक देवार्चन समिति का निर्वाचन करती थी, जो प्रधान आचार्य के परामर्श एवं सहयोग से समस्त कार्यो को सम्पन्न करती थी। विद्यालयों का आन्तरिक प्रबंधन पूर्णतः प्रधान आचार्य का उत्तरदायित्व था। मन्दिर विद्यालयों के साथ ही विभिन्न वैष्णव एवं शैव सम्प्रदायों के आचार्यो के मठों में स्थापित विद्यालय भी शिक्षण का कार्य सम्पन्न करते थे। ये उच्च शिक्षा के केन्द्र थे।

आय के साधन:- शिक्षण संस्थाओं के उपर्युक्त व्ययों हेतु छात्रों से किसी प्रकार का शुल्क नहीं लिया जाता था। विष्णुस्मृति (17.18-19, 26) में वेतन लेकर अध्यापन करने की निन्दा की गयी है तथा उसकी गणना उपपातको में है। ऐसी निन्दा प्राचीन ग्रन्थो में अनेक स्थानों पर मिलती है। वैसे मन्दिर विद्यालयों में शिक्षण हेतु नियुक्त शिक्षकों को वेतन दिये जाने का उल्लेख ए.एस. अल्तेकर ने किया है। ऐसी स्थिति में संस्थाओं की वित्तीय आवश्यकता कैसे पूरी होती थी, विचारणीय है। सामान्यता उस काल में शिक्षण संस्थाओं की आय के विभिन्न स्त्रोत दृष्टिगोचर होते है। इनका विवरण आगे प्रस्तुत किया जा रहा है -

छात्र:- प्राचीन भारतीय शैक्षिक संस्थाओं में छात्रों द्वारा होने वाली आय के कई रूप थे। इस पर विचार किया जा रहा है -

www.ignited.in

गुरूदक्षिणा:- यद्यपि प्राचीन काल में शिक्षा निःशुल्क थी; किन्तु प्राचीन ग्रन्थों में शिष्यों का यह उत्तरदायित्व बताया गया है कि वह गुरू को अध्ययनोपरान्त गुरूदक्षिणा प्रदान करे। गौतम धर्मसूत्र (2.54-55) का उल्लेख है कि शिष्य जब गुरूकुल से जाने लगे, तो गुरूदक्षिणा में गुरू को कुछ धन प्रदान करे। मनु स्मृति (2.246) में छात्र को जमीन, स्वर्ण, गाय, घोड़ा, छाता, जूता, धान्य, सब्जी या कपड़ा जो कुछ सामर्थ्य हो, शिक्षोपरान्त गुरू को देकर प्रसन्न करने को कहा है। याज्ञवालक्य स्मृति (1.34) में उल्लेख है कि वरतन्तु के शिष्य कौत्स ने अपने गुरू के लिए अयोध्या के राजा रघु से 14 करोड़ स्वर्णमुद्राएँ उसे अपने गुरू के लिए गुरूदक्षिणा के रूप में अर्पित कर दिया था।

ए.एस. अल्तेकर के अनुसार यद्यपि आचार्य गुरूदक्षिणा का अधिकारी विद्या समाप्ति के बाद होता था तथापि धनी गृहस्थ अपने बच्चों की दक्षिणा अपनी योग्यतानुसार उपनयन के पूर्व ही चुका देते थे।

भिक्षाटन:- प्राचीन शिक्षा व्यवस्था में भिक्षाटन विद्यार्थी का अनिवार्य व पवित्र दैनिक कृत्य था। इससे शिष्य में विनय, समानता आदि तमाम गुणो का विकास होता था, साथ ही शिक्षा संस्थाओं की अर्थव्यवस्था को सुव्यवस्थित करने की दृष्टि से भी इसका महत्व था। गौतम धर्मसूत्र (2.46) के अनुसार शिष्य प्राप्त भिक्षा को गुरू को समर्पित करते थे और वे ही गुरू की अनुपस्थिति में गुरूपत्नी अथवा गुरूपुत्र को समर्पित करते थे तथा वही इस भिक्षा का सदुपयोग करते थे। इस प्रकार भिक्षाटन द्वारा प्राप्त धन-धान्य का गुरूकुल की आय में विशेष योगदान था; क्योकि भिक्षाटन द्वारा प्रत्येक छात्र कम से कम अपने लिए प्रतिदिन के भोजन की व्यवस्था तो कर ही लेता था।

अन्य कार्य:- उपर्युक्त के अतिरिक्त अध्ययन की अवधि में शिक्षण संस्था में रहते हुए छात्र गुरू की सेवा करते थे। परिसर की साफ-सफाई, ईंधन तथा यज्ञ के लिए लकड़ियों की व्यवस्था, पशुओ की देखभाल तथा संस्था की भूमि पर कुछ कृषि कार्य आदि भी किया करते थे। इस प्रकार से वे प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष दोनो प्रकार से संस्था की आर्थिक समस्या के समाधान में सहायक सिद्व होते थे।

शिक्षक:- प्राचीन काल में शिक्षक शिक्षण कार्य के साथ-साथ राजा एवं प्रजा के लिए यज्ञादि संस्कारों को भी सम्पन्न करता था। इससे उसे दक्षिणा के रूप में प्रचुर आय होती थी। ऋग्वेद (10.107.7) में यज्ञ के दक्षिणा को प्रोत्साहित करते हुए कहा गया है कि इसका यज्ञ के साथ वही संबंध है, जो गाय के साथ रस्सी का। बिना रस्सी के गाय एक स्थानी है और बिना दक्षिणा के यज्ञ पंगु है। दक्षिणावान की समाज में उत्तम स्थिति होती है और वही समाज का वास्तविक नेता माना गया है। (ऋग्वेद-10.107-5)

जैसा कि पूर्व में उल्लेख किया जा चुका है कि दक्षिणा के रूप में शिक्षक की आय के साथ-साथ परिवर्ती काल में गुरूकुलों का विस्तार हो जाने पर बौद्ध शिक्षा केन्द्रों से प्रभावित मन्दिर विद्यालयों के अध्यापको को समिति द्वारा अध्यापकों को प्रतिमास निश्चित धनराशि वेतन के रूप में दी जाती थी। ऐसे शिक्षकों के लिए यह आय का एक साधन था।

समाज:- प्राचीन भारतीय समाज शिक्षा के प्रसार के लिए सहायता हेतु सदैव तत्पर रहता था। ब्रहमचारी को द्वार से खाली वापस लौटा देना पाप माना जाता था। उस समय प्रतिमास श्राद्ध किया जाता था जिसमें प्रचुर मात्रा में ब्राहमणों को दान दिये जाते थे। इसके अतिरिक्त उपनयन तथा विवाह जैसे शुभ अवसरों पर अध्यापकों और विद्यालयों को नकद या वस्तु के रूप में प्रचुर दान दिये जाते थे। ए.एस. अल्तेकर के अनुसार समाज के धनी व्यक्ति पाठशालाओं को धन आदि दान देने के अतिरिक्त छात्रों के भोजन के लिए प्रायः निःशुल्क भोजनालयों को भी चलाते थे। अपने किसी दिवंगत की स्मृति में शिक्षण संस्थाओं के भवन भी बनवा दिया करते थे। कभी-कभी ग्राम सभाएँ और निगम व्यापारियों के संघ आदि भी विद्यालय खोलकर उसके लिए धन की व्यवस्था करते थे।

शासन:- प्राचीन ग्रन्थों में राजा को इस बात के लिए प्रोत्साहित किया गया है कि वह शिक्षा संस्थाओं एवं विद्वानों को मुक्तहस्त से दान दे जिससे उसकी कीर्ति में वृद्धि हो। गौतम धर्मसूत्र (2.19) के अनुसार राजा को वेदज्ञ ब्राहमणों का भरण-पोषण करना चाहिए। गौतम धर्मसूत्र (1.12) में ही एक अन्य श्लोक में कहा है कि राजा अध्ययनरत ब्रहमचारियों का पोषण करे। आपस्तम्ब धर्मसूत्र (2.25.1) के अनुसार जो राजा अपने सेवकों को हानि पहुँचाये बिना ब्राहमणों को उनकी विद्या एवं चरित्र आदि के अनुसार धन देता है, वह अनन्त लोको को प्राप्त करता है। अतः इन कथनों से स्पष्ट होता है कि प्राचीन शिक्षा संस्थाओं को समय - समय पर राजकीय सहायता मिलती रहती थी जिससे उन संस्थाओं का आर्थिक प्रबन्ध अबाध रूप से चलता रहता था। किन्तु शासन का संस्थाओं के संचालन (प्रवेश, पाठ्यक्रम, अनुशासन, कार्यक्रम, मूल्यांकन आदि) में किसी भी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं था।

निष्कर्ष एवं सुझाव:-

इस प्रकार उपर्युक्त विवरण से ज्ञात होता है कि वैदिक काल एवं उसके पूर्व जब जीवन की आवश्यकताएँ कम थी तथा ज्ञान सीमित था, परिवार ही बच्चों की पाठशाला थी तथा पिता ही

www.ignited.in

उसका शिक्षक था। कालान्तर में जब ज्ञान का विस्तार हुआ, जीवन की आवश्यकताएँ बढ़ी, पिता आचार्य की भूमिका निर्वहन में असफल होने लगे तो विभिन्न विषयों के ज्ञाता ब्राह्मणों ने अपने घर में ही पाठशालाएँ खोल दी जिन्हें गुरूकुल या गुरू आश्रम कहा जाता था। इन आश्रमों में निवास करते हुए छात्र निःशुल्क शिक्षा ग्रहण करते थे। आश्रमों का सम्पूर्ण प्रबन्धन गुरू द्वारा किया जाता था जिसमें शिष्य लोग उसकी सहायता करते थे। कालान्तर में बौद्ध धर्म के उदय के बाद बौद्ध विहार प्रमुख शिक्षण संस्थान बन गये। इन विहारों में रहते हुए छात्र शिक्षा प्राप्त किया करते थे। विहार भी गुरूकुल के समान ही पूर्णतः आवासीय थे तथा यहाँ पर भी छात्रों को निःशुल्क शिक्षा प्रदान की जाती थी। इन विहारों में से कुछ ने कालान्तर में विश्वविद्यालयों का रूप ग्रहण कर लिया।

बौद्ध विहारों के अनुकरण पर ही हिन्दुओं ने मन्दिरों में पाठशालाए खोल दी तथा धीरे-धीरे मन्दिर भी शिक्षा के प्रमुख केन्द्र बन गये। इसी प्रकार विभिन्न सम्प्रदायों के विद्वान आचार्यो ने भी अपने मठों के शिक्षण की व्यवस्था की जिससे वे भी शिक्षा के केन्द्र बन गये। अग्रहार ग्राम भी उच्च शिक्षा के केन्द्र के रूप में विकसीत हुए। इन औपचारिक संस्थाओं के अतिरिक्त प्राचीन काल में परिषद्, चरक तथा शाखा का भी उल्लेख मिलता है, जो शिक्षा के प्रचार-प्रसार व विकास के लिए महत्वपूर्ण कार्य करते थे। यद्यपि प्राचीन भारत के विभिन्न कालों के शिक्षण संस्थाओं के स्वरूप में परिवर्तन होता रहा; किन्तु स्वतंत्र शिक्षक तथा उसकी पाठशाला का महत्व सारे देश में सामान्य जन की शिक्षा की दृष्टि से सदैव बना रहा।

ज्ञातव्य है कि प्राचीन शिक्षण संस्थाएँ पूर्णतः आवासीय थी, जहाँ पर छात्रों को निःशुल्क शिक्षा प्रदान की जाती थी, किन्तु गुरू को अपनी व्यक्तिगत आवश्यकताओं की पूर्ति, छात्रों के भोजन, वस्त्र, निवास, शैक्षिक उपकरणों की व्यवस्था आदि में कुछ व्यय करना पड़ता था। इन व्ययों को गुरू यज्ञादि से वर्जित धन, छात्रों द्वारा दी गई गुरूदक्षिणा, भिक्षाटन से प्राप्त धन-धान्य, समाज के धनाढ्य व्यक्तियों द्वारा किये गये दान तथा राजकीय सहायता के रूप में मिले धन आदि से पूरा करता था।

प्राचीन भारतीय शिक्षण संस्थाओं एवं उनके वित्त व्यवस्था के अध्ययन के आधार पर कतिपय बिन्दु उभरते हैं, जिन्हें वर्तमान शिक्षा व्यवस्था को आधुनिक सन्दर्भ में उन्नत बनाने की दृष्टि से अपनाने पर विचार किया जा सकता है। ये विचार बिन्दु निम्नवत् है -

1. शिक्षण संस्थाओं मे प्रवेश निःशुल्क हों। संस्थाओं के वित्तीय आवश्यकता-शिक्षक, छात्र, व्यवस्था, उपकरण आदि से संबंधित, की पूर्ति का दायित्व समाज का हो।

2. शासन और समाज मिलकर देश की शैक्षिक नीति का निर्धारण करें। यह नीति भारतीय संस्कृति, सभ्यता, राष्ट्रीय आवश्यकताओं, वर्तमान ज्ञान विज्ञान की प्रगति का विचार करते हुए विद्वानों के सहयोग से तैयार की जाये। इस नीति में शासक दल में बदलाव के साथ बदलाव न किया जाये।

3. सभी संस्थाएँ राष्ट्रीय शैक्षिक नीति के परिप्रेक्ष्य में अपने आन्तरिक क्रियाकलापों के आयोजन में स्वतंत्र हों। आवश्यकतानुसार इनके निरीक्षण व परामर्श हेतु विद्वानों की क्षत्रीय समितियाँ गठित की जा सकती हैं। शासन अथवा समाज का इसमें सीधे कोई नियंत्रण व हत्तक्षेप न हों।

4. शैक्षिक संस्थाओं की वित्त की आवष्यकता समाज के सहयोग से पूरी की जाये। इसके लिए शैक्षिक कर सभी से लिया जा सकता है, जिसका व्यय स्थानीय आधार पर गठित समीतियों द्वारा संस्थाओं की व्यय स्थानीय आवश्यकतानुसार किया जाना चाहिए।

5. शैक्षिक संस्थाओं के ऐसे बड़े व्यय जिन्हें ज्ञान-विज्ञान के विकास हेतु किया जाना वांछित हों, शासन द्वारा वहन किये जाने चाहिए।

संदर्भ

सोनी, सुरेश (2004): हमारी सांस्कृतिक विचारधारा के मूल स्त्रोत, लोकहित प्रकाशन; लखनऊ

गुप्ता , एस.पी. (1994): भारतीय शिक्षा का विकास एवं समस्यायें, शारदा पुस्तक भवन्; इलाहाबाद

झा (डॉ.) नागेन्द्र: वैदिक शिक्षा पद्धति और आधुनिक शिक्षा पद्धति, वेंकदेश प्रकाशन, नई दिल्ली

पाण्डेय राम शकल (2002): प्राचीन भारतीय में शिक्षा मनीषी, शारदा पुस्तक भवन; इलाहाबाद

शर्मा, डॉ. शंकर दयाल (2008): शिक्षा-दिशा और दृष्टिकोण, प्रवीण प्रकाशन; नई दिल्ली

कुमार, कृष्ण (1999): प्राचीन भारत की शिक्षा पद्धति; सरस्वती सदन; नई दिल्ली

मिश्र, बाबू लाल (2003): महाभारत शिक्षा प्रणाली, प्रतिभा प्रकाशन; नई दिल्ली

त्रिपाठी, लाल जी (2001): सांख्य दर्शन में शिक्षा की अवधारणा एवं उद्देश्य, भारतीय आधुनिक शिक्षा, शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्; नई दिल्ली, वर्ष-20, अंक-2

Corresponding Author

Shveta Kumari*

Researsch Scholar